International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

प्रेम और समर्पण के लोककविः कबीर

शर्मिला राठी (शोधार्थी)
हिन्दी विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक।

शोध सार–

हिन्दी साहित्य इतिहास के काल विभाजन में भक्ति काल को साहित्य के स्वर्ण–युग के रूप में विश्लेषित किया जाता है। हिन्दी साहित्य का सौभाग्य है कि इसी भक्ति काल में रामाश्रयी भक्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ तुलसीदास मिले जिन्होंने दशरथ पुत्र राम के आदर्शमयी जीवन का लोककल्याणकारी रूप 'रामचरित मानस' के रूप में अभिव्यक्त किया। यह सर्वविदित है कि 'रामचरित मानस' भारतीय जन मानस का शिरोमणी ग्रंथ है जिसे साहित्यिक एवं धार्मिक दोनों रूपों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। 'तुलसीदास' के अतिरिक्त कृष्ण भक्त कवियों में नेत्रहीन सूरदास का जिक्र 'वात्सल्य रस' के सम्राट के रूप में बडे ही आदर के साथ लिया जाता है। इनके साथ इस युग में सूफी काव्य मत के अंतर्गत 'पद्मावती' के रचयिता मलिक महोम्मद जायसी ने मानवीय रूपकों के माध्यम से अनन्त अगोचर परमात्मा की प्राप्ति हेतू संघर्षशील व्यक्ति और कवि का स्थान प्राप्त किया। जिन्होंने भाषा के गूढतम रूप में कविता न करके अवधि के ठेठ रूप का प्रयोग किया। उपरोक्त सभी महानुभवों मे भी श्रेष्ठतम संत कबीर निरगुणोपासना के पहले ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त असंगतियों, रूढ़ता – जड़ता एवं अशोभनीय की ना केवल आलोचना की अपितु इसके साथ ही साथ स्वंय अपने जीवन में उसे कार्यरूप में मूर्त कर लोगों के सामने आदर्श भी स्थापित किया। इसलिए हिन्दी के पहले लोककवि होने का श्रेय उन्हें ही जाता है।

मुख्य शब्द– निरगुणोपासना, अगोचर सत्ता, बाह्याडम्बर, आत्मस्वाभिमान, संवेदना।

प्रेम और समर्पण के लोककविः कबीर

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का नाम मील के पत्थर के रूप में अंकित है और उनके द्वारा की गई अवहेलना और तुलसी की प्राण–प्रतिष्ठा को अन्य समकालीन बुद्धिजनों ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया। आ. हजारी प्रसाद भारतीय धर्म साधना एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में कबीर के वैशिष्टय को

स्थापित करते हुए लिखते हैं कि– "हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंदी जानता है तुलसीदास। परंतु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बडा अंतर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे पर दोनों के स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कडाना स्वभाव और सब कुछ को झाड–फटकार चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितिय व्यक्ति बना दिया है।"[1] संत कबीर बुद्ध के पश्चात पहले ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने प्रेम को जीवन का सार बताया। प्रेम की प्राप्ति जीवन की सभी विसंगतियों का क्षरण करती है और यह प्रेम इतनी सरलता से भी प्राप्त नहीं होता।

प्रेम न खेती नीप जै, प्रेम न हाट बिकाए।

राजा परजा, जिहि रूचौ, सिर दे जो ले जाए॥

वे कहते हैं कि प्रेम की कहीं खेती नहीं होती और न यह किसी बाजार मे मिलता है। यह तो ऐसे लोगों को ही मिलता है जो संसार मे ऊँच–नीच की असमानता से परे अपने सीस उतारने जैसे कठोर व्रत लेने को भी तैयार है, उन्हें ही सच्चे प्रेम की प्राप्ति होती है। संत कबीर का यह प्रेम अन्ततः जिस पथ पर जनता को पहुंचाता है या फिर ले कर जाता है वह अगोचर सत्ता के परिपेक्ष्य मे अगम और अपरूप है। यहाँ तक की यह गोचर जगत में भी सहज प्राप्य नहीं है। इस सच्चे प्रेम की प्राप्ति हेतु लोगों को अपने घर, अपने शरीर की शुद्धता के प्रति सचेत करते हुए कहते हैं कि –

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाधा।

सीस उतारि पगतल धरै, तब निकटि प्रेम का स्वादा॥

संत कबीर के कहने का अभिप्राय है कि प्रेम सिर्फ दिखावे की वस्तु नहीं है वरन परमात्मा से प्रेम करने से पहले उस अगम और अगाध पथ पर स्व–प्रेम की ज्योति के माध्यम से, स्व–प्रेम के प्रकाश के माध्यम से,अध्यात्म की विद्युत के माध्यम से बाह्याडम्बरों से परिपूर्ण साधना–पथ की विसंगतियों को दूर करना होगा। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कबीर सिर्फ आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों तक ही अपने प्रेम को बाँध कर नहीं रखते अपितु वे तो संसार के प्रत्येक जड से लेकर चेतन तक, सुक्ष्म से लेकर विशालकाय प्राणी तक में प्रेम संबंधों की अनिवार्यता को स्वीकार करते है। कबीर कहते हैं कि उस परम

प्रिय के दर्शन एवं उससे प्रतीति नहीं कर सकते जब तक की हम अपने आप से, अपने सामीप्य जन से प्रेम या रागात्मक संबंध स्थापित नहीं कर लेते।

संत कबीर भारत मे हिन्दी के लोक जागरण के प्रथम पुरुष थे। उन्होंने लगभग 600 वर्ष पूर्व भारत में नवजागरण का शंखनाद किया जो कि बंगाल के नवजागरण से कई सौ वर्ष पूर्व पूर्णतः भारतीय संस्कारों एवं आवश्यकता के अनुरूप प्रकाशित हुआ और इसके संदर्भ मे कमलेश्वर जी का मत है कि बंगाल का पुनर्जागरण तो कई सदियों बाद का सच है जो अंग्रेजी भाषा के संसर्ग और साम्राज्यवादी सत्ता के आंतरिक संताप और पश्चाताप से पैदा हुआ था। ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता और व्यवस्था की जो अपराध ग्रंथि थी, उसने मानवीय मुखौटे लगाए थे... उन्ही मानवीय मुखौटों की छाया तले बंगाल का नवजागरण पनपा था जिसने पूरे भारत को प्रभावित किया था। यह अधिकांश रूप में अंग्रेजी भाषा के साहित्य और विचारधारा के माध्यम से हुआ था और मूलतः यह ब्रिटिश शासनपरस्त बंगाल के सामंती मध्यवर्ग का नवजागरण था। लेकिन यह बहुत बडा लेकिन है कि हिन्दी नवजागरण का प्रारंभ तो कबीर के साथ हो चुका था वो भी छह सौ साल पहले। बंगाल का नवजागरण तो उसके चार सौ साल बाद हुआ। हिन्दी जाति के नवजागरण का उदय कबीर के साथ हुआ और वह राजभाषा फारसी के माध्यम से नहीं, जैसा कि बंगाल में अंग्रेजी के संपर्क और माध्यम से हुआ। हिन्दी जाति का नवजागरण फारसी जैसी विदेशी भाषा के जरिए नहीं हुआ बल्कि अपनी देशी भाषा भोजपुरी या सधुक्कडी के माध्यम से हुआ। हिन्दी जाति इतनी क्लीव और विनत है कि वह अपने भारतीय नवजागरण के ऐतिहासिक सत्य को पहचानने से भी विरक्त है और बौद्धिक नपुंसकता के कारण यह घोषणा नहीं कर सकती कि भारत का नवजागरण कबीर के साथ उदित हुआ था। बांग्ला साहित्य और उसके नवजागरण के सांस्कृतिक अवयवों को आदरपूर्वक स्वीकार करते हुए भी हमें यह रेखांकित करने का अधिकार होना चाहिए कि यदि हमारी भोजपुरी भाषा के कवि कबीर न होते तो गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की गीतांजलि की आधारभूमि कहाँ होती? इस तर्क से गुरुदेव टैगोर छोटे नहीं होते, वे और भी सम्मान्य बनते हैं, पर हमें यह देखना होगा कि भारत के जातीय सत्य और सपने को किसने पहली बार साकार किया।"[2]

कमलेश्वर जी के इन विचारों से अवगत होने के पश्चात यह प्रश्न उठता है कि क्यों हम हिन्दी लोकजागरण के आदिप्रवर्तक कबीर की उपेक्षा करते आए हैं और उनके प्राप्य सम्मान को उपेक्षनीय और अवर्चनीय घोषित करते आए हैं? सवाल के जवाब में कहीं हम उनके निम्न जाति से होने को तो मुख्य कारण नहीं मानते या फिर एक साधारण व्यक्ति द्वारा समाज में उच्च वर्गीय बाह्याडम्बरों से युक्त दिखावेबाज या पाखंडी लोगों की न केवल धज्जियाँ उडाने का कबीर का साहस उन्हें इस सम्मान से वंचित

करता है या फिर आम जनता में अपने आत्मस्वाभिमान और स्वचेतना को जागृत कर समाज में व्याप्त कठोर जातीय बंधंन को ढीला करने का उनका दुस्साहस तो इसकी वजह नहीं है। यहाँ मैं ध्यान दिलाना चाहती हूँ कि हिन्दी के आदि तथा फक्कड कवि के साहस को दुस्साहस उच्चारित कर रही हूँ किंतु इसके पक्ष में मैं सिर्फ यही तर्क देना चाहूँगी कि चाहे आज से छह सौ वर्ष पूर्व की बात कह लीजिए या फिर वर्तमान की कोई घटना ले लीजिए किंतु आम जनता के जीवन में शक्ति, बुद्धि, ज्ञान और स्वाभिमान को संचारित करने के किसी भी प्रबुद्ध जन के साहस को साधन संपन्न वर्ग उसका दुःसाहस कह कर उसकी अवहेलना ही करता है। तभी तो संत कबीर के अल्हड, फक्कड और आत्मज्ञान को विप्र वर्ग ने नकारा है। उदाहरणार्थ रामचरित मानस में तुलसीदास संसार में ज्ञान का प्रसार करने वाला तथा उसका संरक्षक भी ब्राह्मणों को घोषित करवाते हैं। डा. प्रमोद वर्मा के शब्दों में गोरखनाथ वाममार्गियों और साखी–सुबद (निर्गुण) कबीर पर कटाक्ष करके भी तुलसीदास को संतोष नहीं हुआ और उन्होंने अपने राम तक से कहलवाया कि जीवधारियों में उन्हें सबसे अधिक प्रिय 'विप्र' ही हैं। सूरदास जैसे (सगुण भक्ति के गायक) और शुद्ध काव्य के प्रणेता ने 'भ्रमरगीत' की उद्‌भावना पर निर्गुण धारा के विरोध का अवसर निकाल लिया। मध्यकालीन काव्य का निर्गुण–सगुण विवाद एक तरह से उन दिनों के समाज की ऊँची–निचली जातीयों के बीच के तनावपूर्ण संबंधों की ओर संकेत करता है।"[3]

किंतु कबीर मध्ययुगीन संत्रासमयी परिस्थितियों में मुगलों के अत्याचारों से त्रस्त गुलाम भारतीयों की भगवद् भक्ति की पलायनवादी विचारधारा को उनकी कमजोरी न मानकर उस भावधारा को मनुष्य के व्यक्तित्व को तलाशने वाले दर्शन में परिणत कर रहे थे। वे ब्राह्मणवादी तथा ईश्वरवादी विचारों की जडता को समाप्त करके मानवतावादी मुक्ति के लिए प्रयासरत्त थे। संत कबीर ने अपने किसी भी वचन में लोगों को अपना या किसी मत विशेष का अंधानुकरण का संदेश नहीं दिया और ना ही कभी यह कहा कि तुम 'इस' पर विश्वास करो या 'इस' पर नहीं। उन्होंने तो सिर्फ परंपराओं के नाम पर मानव–मानव में व्याप्त विभाजन और मतभेदों के दुष्चक्र और दुष्परिणामों से परिचित करवाया। "वे बताते हैं कि जडतामूलक, अन्याय केंद्रित व्यवस्था ने जो कुछ भी सिरजा है, उसमें से तुम क्या–क्या छोड दो! कबीर निषेधवादी सकारात्मक कवि हैं। वे नकारात्मक मुद्रा में सकारात्मक बात कहतें हैं। वे प्रतिरोधी हैं... वे प्रतिवाद के देशज कवि हैं।"[4] क्या यह सोचने और ध्यान देने वाला तथ्य नहीं है कि कबीर की सारी शब्द संपदा उन्हीं के करघे से छन कर आती है, तभी तो वे यह सब कह पाते हैं कि –

संसकिरित कूपजल, भाखा बहता नीर।

कागद लिखे सो कागदी, की व्यवहारी जीव,
आत्म दृष्टि कहा लिखे, जित देखे तित पीव।

मेरा तेरा मनुआ कैसे इक होई रे,
मैं कहता आखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी।

सोच समझ अभिमानी, चादर भई है पुरानी।
टुकडे–टुकडे जोडि जगत सों, सीके अंग लिपटानी।
कर डाली मैली पापन सों, लोभ मोह में सानी।
ना यहि लायौ ज्ञान के साबुन, ना धोय भल पानी।
सारी उमर ओढत बीती, भली बुरी नहिं जानी।
संका मान, जान जिय अपने, यह है चीज बिरानी।
कहत कबीर धरि राखु जतन से, फेर हाथ नहिं आनी।।

सं. हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर

'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' में ऊर्ध्वगामी ध्वनि और दृष्टि मौजूद है, वह मानवतावादी संवेदना से परिपूर्ण ऐसे लोक की रचना करती हैं जिसमें जाति–पाति, ऊँच–नीच के लिए कोई जगह नहीं है। कबीर इस चदरिया को बुनते हुए ब्राह्मणवादी और पुरोहितवादी दोगले मुखौटे को बेनकाब करते हैं... 'सो चादर सुर, नर, मुनि ओढी, ओढ के मैली कीन्हीं, दास कबीर जतन से ओढी, जस की तस धर दीन्हीं चदरिया।' इन पंक्तियों में कबीर न केवल धार्मिक पाखंडियों को बेपर्दा करते हैं अपितु एक साधारण व्यक्ति की जीजिविषा और सहनशक्ति का भी लोहा मनवाते हैं। कबीर के पूरे साहित्य में मन, वचन और कर्म की समानता प्रतिबिम्बित होता है। किसी भी धर्म–मजहब, जाति–वर्ग से संबंधित होना व्यक्ति की श्रेष्ठता का सूचक नहीं है। जड–रूढ परंपराओं और मनुष्य विरोधी ताकतों का नाश ही मानव के सर्वोत्तम विकास का द्योतक है। कबीर मनुष्य के सामाजिक असमानताओं को मिटाने हेतु प्रेरित करते हैं –

भूला भरमि परै जिनि कोई।

हिन्दु तुरुक झूठ कुल सोई॥

एक जोति से सब उत्पना।

कौन बाम्हन कौन सूदा॥

इन पंक्तियों में एक ओर जहाँ कबीर हिन्दू–मुस्लिम जातीय श्रेष्ठता पर प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं वहीं दूसरी ओर हिन्दू धर्म में व्याप्त जातीगत विभेद को भी सामने ला रहे हैं। उपरोक्त व्यंग्य और तर्क से कबीर ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, ऊँच, नीच आदि के भेदभाव को सहन नहीं करते। उन्होंने समाज की उपयोगी प्रथाओं का कभी विरोध नहीं किया। उन्होंने वर्गीय, जातीय, संप्रदायगत भेदभाव को मनुष्यता के लिए हानिकारक माना और हृदय की शुद्धता को ईश्वर प्राप्ति की पहली आवश्यकता माना। उदाहरणार्थ :–

हरि न मिलै बिन हिरदै सूध।

साईं सेति साथ चल औरों सो सुधभाय।

भावै लान्बे केस कर भावै धुरडि मुडाय॥

मूँड मुँडावत दिन गए, अजहूँ न मिलिया राम।

राँम नाम कहु क्या करै, जे मन के औरे काँम॥

तन को जोगी सब करैं, मन को बिरला कोई।

सब सिधि सहजै पाइएं, जे मन जोगी होई॥

भरम ना भागा जीव का, अनंतहि धरिया भेष।

सतगुरु परचे बाहिरा, अंतरि रहया अलेष॥

सारा कबीर साहित्य मन की शुद्धता और बाह्याडम्बरों के निषेध से भरा हुआ है। समकालीन आवश्याकताओं को ध्यान में रखते हुए कबीर ने दलित असमानता, नारी की विषमदशा, सामाजिक, धार्मिक, सांप्रदायिकता और राजनीतिक कुचक्रों को मानव–हित के लिए अनुपयोगी सिद्ध किया। कबीर की मानवतावादी दृष्टि और समकालीन युग में प्रासंगिकता के संदर्भ में डा. बलदेव वंशी कहते हैं कि– "कबीर के पास कालजयी सोच के साथ मानवतावादी सिद्ध दृष्टि और समुद्र से गहरी संवेदना है। मानव मुक्ति के लिए विस्तीर्ण आकाश जैसा विश्वास है, तो अस्तित्व रक्षा के लिए अगाध श्रद्धामयी शस्य–श्यामला, अक्षय जीवनाक्रोशमयी धरती। कबीर प्रेम और करुणा के अवतार हैं, धरती के अंतिम प्राणी और प्रकृति की निष्कलुष वाणी हैं। महलों की बैचनी और शोषण के सामने खडे हुए झोंपडे का संतोष और ईमान हैं।"[5]

कबीर हर वर्ग, हर मजहब के हतोत्साहित लोगों के संबल बनकर उभरे हैं। वे हमारे समाज में स्थित दलित–स्थिति के प्रति सजग और आत्मीयता का संचार करते हैं। वहीं तत्कालीन स्त्री–दशा के प्रति जिम्मेदार सामंती जडता को तोडते हुए कहते हैं–

नारी जननी जगत की, पाल पोष दे तोष।

मूरख राम बिसार करे, ताहि लगावे दोष॥

अर्थात संसार की आदि जननी नारी है उसके प्रति कृतार्थ होने की बजाय अपने अवगुणों का दोष उस पर मढ देना कृतघ्नता है। माना कि कबीर ने नारी के प्रति कहीं–कहीं कठोर शब्दों का प्रयोग किया है किंतु वे 'कंचन–कामिनि' के निंदक हैं, एवं सतवंती और मर्यादावान स्त्रियों को शिरोधार्य ग्रहण करते हैं। वे तो वेश्या चलन की, वेश्या व्यवहारों की, और दुष्चरित्र आत्माओं के निंदक रहे हैं, फिर चाहे स्त्री हो या पुरुष।

संत कबीर की विद्वता एवं उनकी शैली पर अनेकों बार प्रश्नचिह्न लगाए गए हैं। उनके अनपढ होने के कारण आलोचकों ने उनकी सधुक्कडी भाषा को अनगढ और भाव संप्रेषण में कमजोर एवं उलहाने देने

के ही योग्य समझकर उनके महत्व को अन्य समकालीन कवियों (तुलसी, सूर और जायसी) की तुलना में कमतर आँका है। इस संदर्भ में 'कबीरः पुनर्विचार का समय' शीर्षक लेख में डा. रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं कि "कबीर के पक्ष में बहुत बार कुछ क्षमा याचना की मुद्रा में कहा जाता है कि वे पढे–लिखे तो थे नहीं और उनका भाषा–ज्ञान अधकचरा था। जैसे ऐसी साधनहीनता के साथ जितना कुछ वे कर सके उसी को बहुत करके मानना चहिए। इस तर्कक्रम का रोचक प्रतियाख्यान हम अपने समय में स्वयं देख चुके हैं। आधुनिक काल के शीर्ष कवि निराला की व्यवस्थित शिक्षा नहीं के बराबर थी तथा हिन्दी उन्होंने अपनी पत्नी के सान्निध्य में और 'सरस्वती' पत्रिका की प्रतियों से सीखी थी, जैसा कि उन्होंने 'गीतिका' के समर्पण में बडे भावपूर्ण ढंग से स्पष्ट किया है। तब कबीर और निराला में भाषा और संवेदना का जैसा वैविध्य है वैसा उनके समकालीनों में ढूँढ पाना कठिन है।"[6] कबीर के स्वर वेद–विरोधी और कर्मकांडी पुरोहितवादी दर्शन के निषेध की उस लंबी परंपरा जोकि बौद्ध, जैन, चार्वाक, गुरुनानक और बाबा साहब अंबेडकर से होती हुई आगे बढती ही जा रही है, में सबसे प्रखर और मुखर है क्योंकि परिवर्तनगामी कबीर ने अपने जीवन के मर्म को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए देशज भाषा का प्रयोग किया है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी लोक जागरण के रूप में कबीर सदैव प्रासंगिक रहे हैं और रहेंगे। उनकी मान्यताएँ समाज विरोधी एवं मानवता विरोधी ताकतों को बेनकाब करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रही हैं। आध्यात्मिक वैश्विकरण तथा हिन्दी लोक जागरण के साथ कबीर चिंतन की आवश्यकता को महत्वपूर्ण मानते हुए डा. बलदेव वंशी कबीर की प्रासंगिकता को व्यापक परिप्रेक्ष्य में कहते हैं कि– "कबीर को पूरा ग्रहण न करना कबीर–चिंतन के प्रति अन्याय है। मार्क्स विद्वान कबीर को उतना ही ग्रहण करते हैं, जितना उन्हें अपने समाज दर्शन के अनुकूल लगता है। यहाँ वे कबीर के मूल आधार को– अध्यात्म को ही अनदेखा कर देते हैं। बिना यह चिंता किए कि कबीर की दुःसाहसिकता का स्रोत तत्कालीन राजशाहियों को तथा मदांध हिन्दू–मुस्लिम सत्ताशाहियों को ललकारने की शक्ति–सामर्थ्य कबीर इसी स्रोत से पाते हैं – आत्मिक–अध्यात्मिक अक्षय–स्रोत निर्गुण ब्रह्म से। मार्क्सवादी विद्वानों की यह सीमा हो सकती है, कबीर की नहीं। अपनी सीमा में आबद्ध रहकर वे कबीर की वास्तविक सोच, शक्ति को पहचान नहीं पाते। अक्षय गुणधर्मिता, जिसके बल पर वे समूचे विश्व के लिए उत्तरोत्तर प्रासंगिक होते जा रहे हैं, वे उसे जान नहीं पा रहे। लगभग यही स्थिति दलित साहित्य चिंतकों की है। जबकि उन्हें यह देखना चाहिए कि संतों ने किस पुख्ता जमीन पर खडे हो कर जाति–वर्ण–धर्म का भेदभावपूर्ण संग्राम लडा। संतों की अध्यात्म–भूमि को नकार कर वे अपनी कितनी हानि कर रहे हैं, उन्हें पुनः सोचना होगा।... पूरा विश्व, जो

एक ओर भूमंडलीकरण के नाम पर निकट आता जा रहा है, सिमट रहा है, वहीं दूसरी ओर आर्थिक लूट के लोलुप व्यवहारों, एकधुरीय विश्व व्यवस्था, हिंसक–युद्ध बर्तावों के कारण छिटककर पहले से भी अधिक पारस्परिक शत्रुता की सीमाओं में बंटकर दूर होता जा रहा है। इसे वास्तविक आत्मिक–आध्यात्मिक सूत्र में पिरोने की आवश्यकता है, जिसे केवल कबीर वाणी की मूल चेतना संभव बना सकती है।"[7] कबीर अपने काल में हिन्दी के प्रथम जनजागरण के कवि और आदर्श के रूप में उभरे थे और उनकी वाणी निरंतर लोगों को आत्म ज्ञान के साथ–साथ लोक हित के लिए भी प्रोत्साहित करती आई है। बस शर्त इतनी सी है कि–

सील, संतोष सदा समदृष्टि, रहन गहनि में पूरा।

ताके दरस परम भय भागै, होइ कलेस सब दूरा॥

संदर्भ ग्रंथ :

1. डा. प्रेमशंकर, कबीर नए संदर्भ, कबीर, कबीरः एक पुनर्मूल्यांकन, संपादक डा. बलदेव वंशी, पृ. 81
2. कमलेश्वर, जनजागरण के आदि प्रवर्तक कबीर,कबीरः एक पुनर्मूल्यांकन डा. बलदेव वंशी, पृ. 86
3. कमलेश्वर, जनजागरण के आदि प्रवर्तक कबीर,कबीरःएक पुनर्मूल्यांकन डा. बलदेव वंशी, पृ. 88
4. कमलेश्वर, जनजागरण के आदि प्रवर्तक कबीर,कबीरः एक पुनर्मूल्यांकन डा. बलदेव वंशी, पृ. 87
5. डा. बलदेव वंशी, आध्यात्मिक वैश्वीकरण और कबीरः एक पुनर्मूल्यांकन, पृ. 14
6. डा. रामस्वरूप चतुर्वेदी, कबीर पुनर्विचार का समय, कबीरः एक पुनर्मूल्यांकन, संपादक डा. बलदेव वंशी, पृ. 77
7. डा. बलदेव वंशी, आध्यात्मिक वैश्वीकरण और कबीरः एक पुनर्मूल्यांकन, पृ. 22

International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018